



श्री धर्मपालजी (जन्म-काधला, मुजफ्फरनगर, १९२२) ने लाहौर में शिक्षा पाने के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया। मीरा बेन द्वारा रुड़की एवं ऋषिकेश के बीच स्थापित 'पशुलोक' एवं 'बापुग्राम' से सम्बद्ध रहने के बाद 'एसोसिएशन ऑफ वालण्टरी आर्गेनाइजेशन्स ऑफ रूरल डेवलपमेण्ट' (अवार्ड, दिल्ली) के महासचिव और निदेशक (१९५८-

१९६४) रहे। फिर अखिल भारतीय पंचायत परिषद के शोध विभाग का कार्य देखते (१९६४-६५) रहे। वर्तमान में धर्मपालजी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य और राष्ट्रीय गौपशु आयोग के अध्यक्ष हैं।

श्री धर्मपालजी ने गत पचीस-तीस वर्ष अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों-कर्मियों की खोज करने में लगाये हैं और देश-विदेश के अभिलेखागारों-ग्रन्थागारों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की एक ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है।

श्री धर्मपाल के प्रकाशित ग्रन्थ हैं -

सिविल डिस्ओबीडिएन्स एण्ड इण्डियन ट्रेडिशन

इण्डियन साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी

डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया

द मद्रास पंचायत सिस्टम

द ब्यूटीफुल ट्री

अंग्रेजों से पहले का भारत

भारतीय चिन्त, मानस और काल

भारत का स्वधर्म

स्वदेशी और भारतीयता

अंग्रेजी की सभी पुस्तकें अभी हाल में अवर इण्डिया प्रेस, गोवा से पुनः

प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

: प्रकाशक :

भारत पीठम्

अंग्रेजों से पहले का भारत

धर्मपाल

अँग्रेजों से पहले का भारत

एक काल का भारत का इतिहास

और

भारत का विकास

भारत की संस्कृति

धर्मपाल

भारतीय इतिहास से

प्रकाशक
भारत पीठम

पाठानुक्रम

पूर्व कथन

	पृष्ठ संख्या
– लोगों को कोरी स्लेट समझ लिया गया	६
– उधार की आँखों से देखना और समझना	११
– अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी	१८
– धरती से शिखर तक था हमारा ढाँचा	२४
– मजदूरी भी ऊँची थी और शिक्षा भी	३०

उत्तर कथन

– तो आज तस्वीर इतनी उल्टी क्यों दिखती है	३५
– लूट के लिए बिगाड़ी गई व्यवस्था	४०
– बेगारी करवा के सभ्य समाज को तोड़ा	४४
– पराए ढाँचे से नहीं जुड़ते अपने लोग	४९
– दुनिया को अपनी नजर से देखना	५३

द्वितीय संस्करण (द्वितीय वर्ष) पाठानुक्रम

पूर्व कथन

लोगों को कोरी स्लेट समझ लिया गया

गोंधीजी ने १९२० के शुरु में यंग इंडिया में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हमारी देशज शिक्षा व्यवस्था, कला-कौशल, ब्रिटिश आक्रमण से पहले की देश की सामाजिक स्थिति और ब्रिटिश राज के दौरान फैली कंगाली और १८०० से पहले दक्षिण के परिआ और महाराष्ट्र के महारों की बेहतर स्थिति के बारे में बहुत कुछ छापा। इनके सारे लेखक कोई गोंधीजी के अनुयायी और प्रशंसक नहीं थे। ब्रिटिश वायसराय परिषद के सदस्य शंकरन नायर जैसे लोगों ने भी इसी तरह की बातें लिखी थीं।

गोंधीजी ने अपने बहुत सारे लेखों और भाषणों में, खासतौर पर १९०६ में लिखे गए हिंद स्वराज में, भारतीय समाज और उसकी व्यवस्था, उसके इतिहास में किस तरह चली है, इसकी अपने तरीके से भरी पूरी जानकारी देने की कोशिश की थी। हिंद स्वराज में सत्याग्रह के बारे में उन्होंने लिखा कि भारत में इसकी बहुत पुरानी परंपरा रही है और इसका उदाहरण भी उन्होंने दिया है। मेरा विश्वास है कि भारतीय समाज और उसकी दृष्टि के बारे में अपनी इस गहरी समझ के कारण ही देशवासियों से उनके तार इतनी आसानी से जुड़ सके थे कि उनकी बात भारत के लोग मानते चले गए। उन्होंने १९४४ में कहा भी था कि भारत लौटने के बाद उन्होंने तो उसे सिर्फ स्वर दिया था जिसे लोग महसूस करते और खुद जानते थे। यह जरूर सही है कि देश के लोगों के साथ जुड़े हुए उनके तार के अलावा उनकी संगठनात्मक शक्ति और नेतृत्व की क्षमता को भी देश में आए परिवर्तन का श्रेय दिया जाना चाहिये।

इस सबके बावजूद हिंद स्वराज में गोंधीजी ने जो कहा और यंग इंडिया या दूसरे स्थानों पर भारतीय समाज और उसकी राज्य व्यवस्था के बारे में जो कुछ छपा, उसे स्वतंत्रता लेने के बाद देश को चलाने वाली संस्थाओं ने बहुत कम आत्मसात् किया। सरकारी और गैरसरकारी स्तर पर आज भी वही व्यवस्था चल रही है जिसे १७६० से १८३० के बीच भारतीय संस्थाओं और ताने-बाने को नष्ट करके अंग्रेजों ने बनाया था। या फिर अपनी सत्ता को

मजबूत करने के लिये अंग्रेजों ने जो ढोंचा खड़ा किया था उसी को आदर्श मानकर हमने अपना ढोंचा बनाया है।

अब यह कहा जा सकता है कि १९२० तक देश के प्रमुताशील वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने समाज से अलग-थलग हो चुका था। और उसने अपने निजी या सार्वजनिक जीवन को ब्रितानी विचारों और मान्यताओं के आधार पर ढालना शुरू कर दिया था। गोंधीजी ने कोई २५ साल देश का नेतृत्व किया। कई मोर्चों पर अंग्रेजों का मुकाबला करने और उनका प्रभाव पोंछने के ख्याल से यह कोई लम्बा अरसा नहीं था। यह भी सही हो सकता है कि उनके साथ आए श्रेष्ठिवर्ग ने – जिसे बाद में राजनैतिक सत्ता मिली – भारतीय समाज के बारे में उनकी समझ को गंभीरता से नहीं लिया और यह नहीं सोच सके कि ऐसा भारत आज की समसामयिक दुनिया में टिकाऊ हो सकता है। गोंधीजी को भी प्रिय रहे इस श्रेष्ठिवर्ग के एक अधिक बुद्धिमान व्यक्ति ने कहा था कि कोई आदमी भला गाँव के लोगों में गुण कैसे देख सकता है, वे तो इतने अज्ञानी होते हैं।

बहरहाल, हमारे श्रेष्ठिवर्ग का यह तबका भारतीय परंपरा को आत्मसात् करके भविष्य का नक्शा न बना पाया हो, मगर उसमें सृजनात्मक प्रतिभा होती तो पश्चिम से उसने जो कुछ सीखा था उसे ही ठीक से पचाकर और भारतीय परिस्थितियों में ढालकर हमारे फायदे की वस्तु बना सकता था। लेकिन ऐसा करने में भी वह अब तक पूरी तरह असफल हुआ है। इस पर ज्यादा कहने की जरूरत नहीं है क्योंकि कुछ महीने पहले काफी महिमामय लोग इस पर खूब विस्तार से बोल चुके हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि देश की व्यवस्था को फिर से रचने में हमारी यह अक्षमता और भी काफी पहले से है। शायद विजयनगर का राज्य और १८ वीं शताब्दी के आरंभ में मराठाओं ने जो देसी राज्य खड़े करने की कोशिश की थी वह भी आज जैसी ही नाकामयाब साबित हुई थी। बावजूद इसके कि विजयनगर राज्य की प्रेरणा महान आचार्य विद्यारण्य से मिली और मराठाओं के राज्य की प्रेरणा समर्थ रामदास ने। दोनों की कोशिशों में हम अपने समाज और अपनी राज्य व्यवस्था को लोगों की मान्यताओं और विचारों से जोड़कर उसे सुसंगठित और कार्यशील नहीं बना पाए। हो सकता है जब समाज और राज्य व्यवस्था के बीच का संबंध छिन्न-भिन्न हो जाता हो, तो ज्यादातर सभ्यताओं को इसी तरह का बीजपन भुगतना पड़ता हो और नींद की अवस्था में आ जाना पड़ता हो।

ऐसा हो सकता है कि कई शताब्दियों से हम इसी तरह के दौर से गुजर रहे हैं और जल्दी ही ऐसा समय आ जाए जब हमारी राज्य व्यवस्था न सिर्फ हमारे समाज की आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने लगे, बल्कि उसी के विचारों और मान्यताओं के अनुरूप चलती दिखाई दे। यह भी हो सकता है कि मैं नाटक अधीर हो रहा हूँ और देश में पहले से ही ऐसी धाराएँ बह रही हों जो कुछ समय बाद समाज और राज्य व्यवस्था में आज दिखाई देने वाली दरार को निरर्थक बना दें। जब हमने आजादी ली थी तो गाँधीजी ने किसी को लिखा था कि हमें बहुत जल्दी किसी नतीजे की आशा नहीं करनी चाहिए। करीब डेढ़ सौ वर्ष की परलंब्रता ने जो स्थिति पैदा की है, उससे देश को उबारकर, स्वस्थ करने में कम से कम इससे आधा समय लग सकता है।

इस सबके बावजूद मैं जो बैचेनी महसूस करता हूँ वह दूर नहीं होती। मुझे लगता है कि हमारा समाज और हमारी राज्य व्यवस्था जिस तरह की दो अलग-अलग दुनियाओं में बँटती जा रही है उसके पीछे गहरे और दार्शनिक कारण हैं। शायद भारत के लोगों का चित्त और इत्तके आधार पर जो निजी संसार उन्होंने बनाया है वह एक ऐसी दुनिया से मेल नहीं बैठा सकता, जिसमें वर्गों और क्षेत्रों के बीच एक अनिवार्य विद्वेष रहता हो।

कोई बीस साल पहले तक मैं ग्रामीण पुनर्रचना के कामों में ज्यादा दिलचस्पी ले रहा था। अपने जैसे दूसरे बहुत से लोगों की तरह एक नए भारत को रचने से जुड़े सवालों में मेरी आम दिलचस्पी थी। हो सकता है मैंने भी १९४७ में यह नादानी भरी कल्पना की हो कि ऐसी पुनर्रचना और ऐसा पुनर्जागरण होने ही वाला है। हमारी पीढ़ी के अनेकों लोगों में यह विश्वास कई वर्षों तक चला।

लेकिन जैसे-जैसे साल बीते इन आशाओं पर पानी फिरना शुरू हो गया। मुझे लगा और मैं सोचता हूँ कि औरों को भी लगा होगा कि अधिकांश क्षेत्रों में हमारी जो उपलब्धियाँ हमें मिली हैं, वे भी भौतिक साधनों की वजह से ज्यादा हैं बजाय हमारी किसी प्रतिभा, पद्धति या सोच-विचार कर किये गये प्रयत्न के। हमारे योजनागत विकास में जो साधन डाले गए उन्हीं का योगदान दिखाई दिया और हमारी इन मामूली उपलब्धियों में किसी मानवीय सामर्थ्य की भूमिका न्यूनतम रही। उन्हीं दिनों मेरी यह भी राय बनी जो आज भी कायम है कि भारत के आम लोग खासतौर पर ग्रामीण, किसी भी मायने में इंग्लैंड या पश्चिम के दूसरे देशों में रहने वाले वैसे ही लोगों से प्रतिभा, कार्यक्षमता और कल्पनाशीलता

में किसी कदर उन्नीस नहीं उठरते। अपनी मामूली पूँजी और दूसरे साधनों के बावजूद देश की खेती और उद्योग धंधों की सभी जरूरतों को पूरी करके उन्होंने बताया है कि वे बीसवीं सदी मध्य के पश्चिमी किसान और कारीगर के मुकाबले कहीं बेहतर हैं।

इन्हीं बरसों यानी १९५० और १९६० के बीच मैं जानता था कि राष्ट्रीय अभिलेखागार किसें कहते हैं। दिल्ली में मैं इसके पास से भी कई बार गुजरा था। लेकिन मैं यह नहीं जानता था कि हमारे समाज और उसके अतीत या हमारे जीवन से इन अभिलेखागारों का क्या संबंध है। ग्रामीण विकास के विभिन्न केंद्रों और १९५७ के बाद बनी पंचायती राज संस्थाओं की यात्रा के दौरान ग्रामीण इलाकों में मैं जो काम कर रहा था, उससे मुझे यह समझ में आ गया कि हममें से अधिकांश अपने देशवासियों के बारे में ज्यादा नहीं जानते। अपने लक्ष्यों के प्रति हमारी गहरी निष्ठा हो सकती है या अपने देश के लोगों के प्रति हमारा गहरा प्रेम हो सकता है लेकिन हमें यह नहीं मालूम कि हमारे देशवासी किस तरह सोचते हैं, जब भी कोई समस्या उनके सामने आती है उसे वे कैसे हल करते हैं, उनकी अपनी प्राथमिकताएँ क्या हैं। यहाँ तक कि हमें अपने काम करने के इलाकों के लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के बारे में कुछ नहीं मालूम।

अतीत के बारे में हमारी एक मोटी धारणा बनी हुई है कि हमारे ग्रामीण कोई हज़ार या उससे ऊपर सालों से बेहद गरीबी में जी रहे हैं। उनके शासकों और उनके सामाजिक व धार्मिक रीति-रिवाजों के द्वारा उनका भयानक शोषण हुआ है और उन्हें अत्यन्त पीड़ाजनक स्थितियों में रखा जाता रहा है। इन परिस्थितियों ने उन्हें कुंठित कर रखा है। वे या तो दिन्मगित रहते हैं या अंधविश्वास और पूर्वाग्रहों के शिकार। इन मान्यताओं के आधार पर हमने यह नतीजा निकाल लिया है कि हमें यानी नए भारत के निर्माताओं को कोरी स्लेट पर अपनी इबारत लिखनी है और इसलिए उस पर जैसा चाहें वैसे विचार और व्यवस्था की छाप लगा सकते हैं। हमने यह सोचने की जरूरत नहीं समझी कि इन लोगों की अपनी कोई स्मृति है, अपने विचार हैं, प्राथमिकताएँ हैं, अभिरुचियाँ हैं। जब ऐसा सोचा भी गया तो उसे महत्वहीन मानकर दरकिनार कर दिया गया। और जब, हम इन कोरी स्लेट मान लिए गए लोगों पर अपनी मान्यताएँ रोप नहीं पाये या इन मान्यताओं को कोई स्थायी रूप नहीं दे पाए तो हमें बुरा लगा और अक्सर हमें इन लोगों पर गुस्सा आया जिनके बारे में हम सोचते हैं, कि हम अपने सुख-चैन को ही नहीं, अपने जीवन तक का बलिदान किये हुए हैं।

अगर मुझे यह कहने का अधिकार हो तो अब तक जो मैंने कहा है वह एक मायने में उस पूरी पीढ़ी की ही मान्यता रही है जो किसी सामाजिक या सार्वजनिक काम में इधर लगे हुए रहे।

उधार की आँखों से देखना समझना

राजस्थान पंचायतों का अध्ययन करते हुए १९६१ में मुझे अपने गाँववालों के बारे में एक बिल्कुल दूसरी समझ हासिल हुई। सर्वाई माधोपुर जिले के एक गाँव में हमें पता चला कि वहाँ सिंचाई के कुछ जलाशय हैं। चूंकि पंचायत के दस्तावेजों में उनका कोई जिक्र नहीं था इसलिए मैंने वहाँ के लोगों से पूछा कि इनमें क्या कभी कोई परिवर्तन हुआ है। उन्होंने बताया कि उनकी जब तब मरम्मत की जाती रहती है। मैंने पूछा कि कौन उनकी मरम्मत करता है तो जवाब मिला हम। मैंने पूछा 'हम' से क्या मतलब पंचायत से? उन्होंने बताया कि इसका मतलब पंचायत से नहीं, उन लोगों से है जिनके खेतों को इससे पानी मिलता है।

उन्होंने यह भी बताया कि किस तरह इन जलाशयों की मरम्मत के लिए श्रम और दूसरे साधन एकत्र किए जाते हैं। जब मैंने पूछा कि पंचायत उनकी मरम्मत क्यों नहीं करती तो उन्होंने बताया कि यह पंचायत का काम नहीं है। मेरे पूछने पर, कि फिर पंचायत का क्या काम है उन्होंने जवाब दिया कि उसका काम विकास करना है और विकास का मतलब होता है वे कार्यक्रम जिन्हें सरकार उनके लिए तय करे। उनकी समझ से उन जलाशयों की मरम्मत विकास के किसी कार्यक्रम में नहीं आती। इसलिए उन्होंने मान लिया कि यह काम ऐसा है जिसे उन्हें खुद करना है। जैसे कि सैकड़ों सालों से वे करते चले आ रहे हैं। इस गाँव को देखने के लिए हम पूरे दल के साथ वहाँ गए थे जिसमें योजना आयोग के पूर्व सदस्य, एक युवा आई.ए.एस. अफसर और उस इलाके के बी.डी.ओ. महोदय भी थे।

उसी शाम हमने इस गाँव व शहर-पंचायत का दौरा भी किया। इस पंचायत ने कुछ ही महीने पहले एक विशाल पंचायतघर बनावाया था जिसमें हम उस समय बैठे हुए थे। पंचायत के दस्तावेजों को पलटते हुए मैंने उनसे पूछा कि कागजों में कहीं उस पंचायत घर को बनाने के फँसले दर्ज नहीं हैं, लेकिन बनाने के लिए इकट्ठे किए गए पैसे का हिसाब जरूर दर्ज है। मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने यह फँसला कब और क्यों लिया था। उन्होंने बताया कि एक और पंचायत है जिसमें गाँव के सभी वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व है और उसे 'बीस

बिस्वा" पंचायत कहते हैं। इस पंचायत घर को बनाने का फैसला कानून द्वारा बनाई गई पंचायत में क्यों नहीं लिया गया। मुझे याद आता है कि उन्होंने कानून-पंचायत की जगह सरकारी-पंचायत शब्द कहा था और बताया था कि पंचायतघर बनाने का फैसला लेने की जगह वह नहीं है। फिर भी मैंने पूछा कि ऐसा ही कोई फैसला उन्हें दुबारा लेने की जरूरत पड़ी तो वे क्या करेंगे? उन्होंने दो टूक जवाब दिया कि यह फैसला कानूनी पंचायत के बजाय अपनी "बीस बिस्वा" पंचायत में ही लेंगे।

कुछ महीनों के बाद इसी तरह की बातें मैंने आंध्र प्रदेश के गाँव में सुनीं। उसके बाद १९६२ के दौरान मैं जगन्नाथपुरी में था और पुरी जिला परिषद के अध्यक्ष से मिलने गया। उन्होंने मुझे नई पंचायतों की कमियाँ बताईं। उनके अधिकारों और साधनों की कमी का जिक्र किया। और जैसा कि ऐसे नौकों पर सुनने को मिला है, पंचायतों को लेकर उन्हें अनेकों तरह की शिकायतें थीं। मैंने उनकी ज्यादातर बातों से सहमति जताते हुए पूछा कि पहले के समय में पंचायतों की क्या हालत थी? तब उन्होंने बताया कि पुरी के आसपास ही कोई ५२ शासन गाँव थे, जहाँ जमीन में सभी प्रकार का साझा स्वामित्व था। यह व्यवस्था सदियों से चली आई थी लेकिन जब १९३७ में हमने खेतिहर को जमीन देने के राष्ट्रीय कार्यक्रम पर अमल करना शुरू किया तो यह व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

मेरे आग्रह पर उन्होंने ऐसा एक गाँव देखने की व्यवस्था कर दी। उस गाँव की यात्रा के बाद मेरी राय बनी कि जहाँ तक सुन्दरता का, गाँव की योजना का, खेती और नारियल या दूसरे पेड़ों को लगाने तथा दूसरी सामाजिक सुविधाओं का सवाल था, इस गाँव की तुलना इजराइली किबुत्जिम या इंग्लैंड यूरोप के किसी दूसरे देश के गाँव से की जा सकती है। मुझे बताया गया कि गाँव था तो मुझे शंका हुई कि शायद वह कोई विशेष गाँव रहा हो। लेकिन उन्होंने भरोसा दिलवाया कि ५२ शासन गाँवों में से कई गाँवों में दूसरी जातियों के लोग रहते हैं और कई गाँव तो मधुआरों के हैं मगर सब की योजना और व्यवस्था एक जैसी ही है।

१९६२ के बाद मुझे ऐसे गाँवों की झलक दक्षिण के बहुत से इलाकों में मिलने लगी, खासतौर पर तमिलनाडु के इलाकों में, जहाँ मैं अक्सर जाता रहा। १९६४ में मुझे तंजापुर में बताया गया कि १९३७ तक वहाँ ऐसे सौ गाँव थे जिन्हें समुदाय गाँव कहा जाता था। इन्हें भी कानून के जरिये खेतिहरों को जमीन देने

वाले राष्ट्रीय कार्यक्रम पर अमल करते हुए भंग कर दिया गया। यह भी पता लगा कि समुदाय व्यवस्था वाले तंजापुर के इन गाँवों के बारे में आचार्य विनोबा भावे को भी बतलाया गया था जब वे १९५६-५७ में वहाँ आये थे। लेकिन इस जानकारी का उन पर कोई असर पड़ा दिखाई नहीं दिया। बाद में मैंने अपने एक सर्वोदय के मित्र से इस बात का जिक्र किया तो पलट कर उन्होंने पूछा कि मैं विनोबा से कौसी प्रतिक्रिया की आशा कर रहा हूँ? मैंने कहा कि मैं विनोबाजी से समुदाय गाँवों पर कोई शोध करने की आशा तो नहीं करता लेकिन अगर उन्होंने महसूस किया होता कि उनकी ग्रामदान की अवधारणा इन समुदाय गाँवों के विचार के जरिए मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक स्तर पर अपने समाज से जुड़ सकती है तो इसे वे अपने अनुयायियों को जरूर बताते और उनमें से कई उनके इस विचार की सार्थकता सिद्ध या असिद्ध करने में उनकी मदद कर सकते थे।

इस ब्यौरे का, कि मैं महालेखागार में रखी हुई सामग्री के प्रति कैसे आकर्षित हुआ, एक मनोरंजक किस्सा गाँव पंचायत की कानूनी तौर पर एक निश्चित अवधि के बाद अनिवार्य रूप से होने वाली बैठकों को लेकर है। तमिलनाडु की पंचायतों के अध्ययन के आरंभिक दौर में १९६४-६५ के आसपास मैंने पाया कि बहुत सारी पंचायतों की बैठक इसलिए नहीं हो पाती कि इन बैठकों के लिए कोई इमारत नहीं है। इसलिए कानूनी अनिवार्यता की खानापूरी के लिए प्रस्तावों को सब सदस्यों के घर भेजकर दस्तखत करवा लिए जाते हैं। मुझे लगा कि दलबंदी के कारण पंचायत के सदस्य किसी एक सदस्य या अध्यक्ष के यहाँ बैठक करने के लिए सहमत नहीं होते होंगे। इसलिए मैंने पूछा कि पंचायत की बैठकें स्कूल में क्यों नहीं होती? १९६४ में भी तमिलनाडु के ज्यादातर गाँवों में स्कूल की छोटी या बड़ी कोई न कोई इमारत मौजूद थी। उन्होंने बताया कि काम के दिनों में यानी सोमवार से शनिवार तक स्कूल चलते हैं इसलिए वहाँ उनकी बैठक नहीं हो सकती। तो मैंने कहा कि रविवार को बैठक कर लेनी चाहिए। इस पर उन्होंने बताया कि सरकार के नियम-कानूनों के अनुसार पंचायत की बैठक रविवार को नहीं की जा सकती।

एक या दो साल बाद मुझे पता लगा कि रविवार को कोई सरकारी काम न करने का कानून लगभग १९०० के आसपास बना था। इससे कुछ साल पहले ब्रिटेन में ऐसा ही एक कानून बनाया गया था ताकि सबाथ के दिन यानी रविवार मनाने की कड़ी की व्यवस्था की जा सके। ब्रिटेन में इस कानून के

जरिए रविवार को किसी भी तरह का सरकारी कामकाज न किए जाने की व्यवस्था, नाटकों के मंचन को रोकने, ज्यादातर दुकानों को बंद रखने और यहाँ तक कि घरेलू कपड़ों को भी न धोने या सूखने के लिए उन्हें पिछवाड़े डालने के रिवाजों समेत आज भी लागू है और जैसा कि ज्यादातर लोग जानते हैं, आज के आधुनिक इजराइल में भी सबाथ का दिन शनिवार को मनाने के इसी तरह के कड़े प्रावधान हैं।

इन्हीं सब बातों के कारण मेरे मन में यह बात बैठी कि हममें से अर्धिकांश लोगों का अपने देश की परिस्थिति से संपर्क पूरी तरह टूट चुका है। हमारे देश के लोग स्वभाव से नरम और सहिष्णु हैं और जब उन्हें खाली पेट सोना पड़ता है या बिना कपड़ों के या बिना छत के रहना पड़ता है तो भी वे हम पर पत्थर नहीं फेंकते या सोते हुए हमारी हत्या नहीं कर डालते। इसलिए हमने उन्हें मरे समान या बिल्कुल गूंगा मान लिया है और सोच लिया है कि उनके भविष्य को निर्धारित करने या अपने हिसाब से उन्हें चलाने का हमें अधिकार है। हम अपने लोगों के बारे में तो ऐसे सोचते हैं लेकिन जिन कानूनों, नियमों, प्रतिक्रियाओं और योजनाओं के जरिये हम इस देश पर शासन कर रहे हैं और जिनके जरिए हमें लगता है कि हम नए भारत का निर्माण कर लेंगे, उनके बारे में हम कुछ नहीं जानते और न हम उन्हें समझते हैं।

मद्रास में सबसे पहले सरकारी रिकार्ड पर मेरी नजर गई जो ज्यादातर बीसवीं सदी से संबंधित थे, लेकिन उनमें से कुछ उन्नीसवीं सदी के बारे में भी थे। मद्रास अभिलेखागार के इन दस्तावेजों को देखते हुए दो बातें मेरी समझ में आईं। पहली यह कि १८०५ के आसपास तंजावुर जिले में कोई अठारह सौ गाँव ऐसे थे जिन्हें समुदायम गाँव कहा जाता था और वे इस जिले के कुल गाँवों के करीब तीस फीसदी थे। दूसरी यह कि ब्रिटिश सरकार ने बंगाल और मद्रास दोनों प्रेसीडेंसियों में कुल कृषि उपज का पचास फीसदी लगान तय किया था। यह लगान १७६० से १८२० के बीच तय हुआ था जब ब्रितानी लोग इन इलाकों पर पूरी तरह काबिज हो चुके थे। इस खबर ने खासतौर पर मुझे परेशान किया और बाद में जब उसका पूरा अर्थ मेरी समझ में आया तो मैं थोड़ाका रह-गया। मैंने इस जानकारी का जिक्र अपने कुछ विद्वान दोस्तों से किया जिनमें राजनेता, योजनाविद्, सरकार में ऊँचे स्थानों पर रहे लोग और भूमि तथा दूसरी ग्रामीण समस्याओं से संबंध रखने वाले कई तरह के लोग थे, जो देश की गरीबी को लेकर मेरी तरह ही चिंतित रहते थे। लेकिन काफी समय तक उनमें से कोई इन

आँकड़ों पर विश्वास नहीं कर पाया।

उनमें से एक जो कि एक जिले में कलेक्टर रह चुका था और बाद में मंत्री रहा और योजना आयोग का सदस्य भी, इस आँकड़े के गलत होने के बारे में बिल्कुल निश्चित था। उसका मानना था कि कोई भी कृषि, सरकार द्वारा इतने बड़े पैमाने पर लगाया गया लगान बर्दाश्त नहीं कर सकती। मेरे एक दूसरे दोस्त ने, जो इतिहासकार है मगर जिसका २० वीं सदी से ताल्लुक ज्यादा है, कुछ महीने बाद मुझे बताया कि अंग्रेजों ने कुल कृषि उपज के ५० वीं फीसदी को लगान के तौर पर वसूला जरूर था मगर ज्यादा भारतीय यह जानते नहीं हैं और महत्वपूर्ण लोगों में जो अकेले व्यक्ति शायद इस तथ्य को जानते थे वे भारतीय गणराज्य के पहले प्रधानमंत्री थे। जहाँ तक समुदाय व्यवस्था वाले गाँवों का सवाल है भारतीय योजना आयोग में भूमि सुधार विभाग के एक पूर्व अध्यक्ष का कहना था कि तंजावुर जिले में ऐसे कोई गाँव नहीं हो सकते, क्योंकि भारतीय भू-कानूनों के बारे में १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए विद्वान बेवरेज ने ऐसा कुछ नहीं लिखा है।

इसी तरह की घटनाओं और अनुभवों ने मुझे इस दिशा में निरंतर अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया और तभी मुझे पता लगा कि भारत के अभिलेखागार में जमा सामग्री का क्या अर्थ है और वह हमारे किस उपयोग की है। अभिलेखागारों में रखी हुई सामग्री के आधार पर मैंने भारत के समाज और राज्य व्यवस्था को किस तरह समझा है इसके बारे में कुछ कहने से पहले मैं एक तो अपनी ब्रिटिश रिकार्ड पर पूरी निर्भरता के बारे में बताना चाहूँगा। यह सचमुच काफी अफसोस की बात है। लेकिन जहाँ तक मैं जानता हूँ भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था की बुनियादी सूचनाएँ देने वाले कोई विस्तृत भारतीय रिकार्ड आजादी प्राप्त करने के आज चार दशक बाद भी उपलब्ध नहीं है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कुछ पुरातत्वीय काम को छोड़ कर अपने अतीत, खासतौर पर अपने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्वरूप, विस्तार और उसके नियामक नियमों के बारे में कोई जानकारी इकट्ठी नहीं की गई।

मेरा विश्वास है कि ऐसे भारतीय रिकार्ड हैं जरूर। हो सकता है वे हर गाँव, कस्बे या जिले में अब मिलें, लेकिन इतने बड़े देश में अभी भी ऐसी दर्जनों जगहें निकल आएँगी जहाँ इस तरह के रिकार्ड मौजूद हों। इस तरह की सामग्री भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्रों, पुरानी रियासतों या राजकीय परिवारों, पुराने सेठों और साहूकरों या जो लोग पारम्परिक रूप से पंजीयक या हिसाब

किताब रखने का काम करते रहे उनके परिवारों में मिल सकती है। भारत के गाँवों में भी विस्तृत रिकार्ड रखे जाते थे। इसका साक्ष्य ब्रिटिश दस्तावेजों और दूसरे स्रोतों से मिलता है।

अब तक हमारा इतिहास ज्यादातर दरबारी इतिवृत्तों और ताम्र अभिलेखों, विदेशी यात्रियों के यात्रा वृत्तांतों आदि पर आधारित रहा है। इस इतिहास लेखन की दिशा और स्वरूप, तथ्यों पर कम विचारात्मक आग्रहों पर ज्यादा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी की यूरोप की इतिहास-दृष्टि के अनुसार समाज के विकास में सामंतवाद एक सीढ़ी के तौर पर जरूर होना चाहिए, इसलिए यह मान लिया गया कि भारत में भी एक दौर जरूर होगा। यूरोपीय मान्यताओं के अनुसार समाज एक दिशा में या सर्पिल गति से बढ़ता है इसलिए मान लिया गया कि भारत में भी ऐसा ही हुआ होगा। यानी १८३० में, जिसके बारे में कुछ प्रकाशित आँकड़े मौजूद हैं, कि भारत के लोगों का जीवन स्तर एक निश्चित था तो उससे ६० या १०० बरस पहले जीवन स्तर इससे निम्न पर ही रहा होगा। इसी तरह एक डच यात्री ने जहाँगीर के शासनकाल में पाया कि भारतीय भोजन उसकी रुचि या हाजमे के अनुकूल नहीं बैठ रहा तो मान लिया गया कि उस समय का भारतीय भोजन बहुत खराब और तकलीफदेह था और आम लोग भयानक हालत में रह रहे थे। इस डच यात्री की शिकायत दरअसल यह थी कि भारत में गाय के मॉस पर पाबंदी लगी हुई थी। उस यात्री ने यह भी लिखा है कि भारत में आगरा जैसी जगहों में मामूली से मामूली मजदूर को भी मक्खन मिली हुई खिचड़ी रोज खाने को मिल जाती थी। उसके इस कथन की सुविधापूर्वक उपेक्षा की जाती है।

या जैसा कि हाल में प्रकाशित हुआ भारत का एक प्रसिद्ध आर्थिक इतिहास बताता है कि हमारे मध्यकाल में यहाँ राजाओं, कुलीनों और उनके आसपास रहने वाले लोगों की जिंदगी काफी तड़क-भड़क से भरी हुई थी। इसका उदाहरण देते हुए इस प्रसिद्ध इतिहास ने १७३६ के दिल्ली के लेखक उद्दरण का जिक्र किया है, जिसने लिखा है कि दिल्ली के बाजारों में इन दिनों एक कुलीन नौजवान अपनी आम जरूरतों पर एक लाख रुपये तक उड़ा देता था। यह बात खिल्ली उड़ाने के लिए कही गई है या उस समय की स्थिति बताने वाली, इस पर कोई गंभीर टिप्पणी है इसकी जाँच-पड़ताल नहीं की गई। इस उद्धरण का उपयोग सिर्फ यह साबित करता है कि उस जमाने में यानी अंग्रेजों से पहले भारत में राजाओं-महाराजाओं और अमीर लोगों का रहन-सहन बहुत

खर्चीला था। इसीलिए आम लोगों की जिंदगी बहुत तकलीफ में रही होगी। या सत्रहवीं शताब्दी का एक यूरोपीय लेखक कहता है कि उस समय दिल्ली पेरिस जितनी बड़ी दिखती थी और पेरिस में उन दिनों पाँच लाख लोग रहते थे तो मान लिया गया कि दिल्ली में भी उतने ही रहते होंगे। अथवा सत्रहवीं शताब्दी का कोई दरबारी इतिहास कहता है कि मुगल साम्राज्य (क्षेत्रफल के हिसाब से इसका मतलब जो रहा हो) में ५० लाख की फौज थी तो यह कल्पना करके कि स्त्रियों और बच्चों समेत ३० लोगों पर एक सैनिक होता होगा, यह मान लिया गया कि उस समय देश की जनसंख्या १५ करोड़ रही होगी।

अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी

अपने अध्ययन के लिए मैंने १८ वीं और १९ वीं शताब्दी को ही क्यों चुना, इसका भी कारण है। मैं १८ वीं शताब्दी के मध्य बिंदु को भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण मानता हूँ। अगर हमारे पास १७०० के आसपास के रिकार्ड होते तो मैं उन्हें निश्चय ही १७५० के बाद के रिकार्ड से ज्यादा पसंद करता। क्योंकि अगर वे बाद के इन ब्रिटिश रिकार्डों जितनी तफसील देते तो इनके मुकाबले वे भारतीय जीवन की ज्यादा सच्ची तस्वीर पेश करते। मद्रास में और दूसरे अभिलेखागारों में सूरत और बंगाल जैसे इलाकों से संबंधित ऐसी कुछ सामग्री जरूर है जो १७५० से पहले के बारे में बताती है। १६६० के मद्रास के रिकार्ड बताते हैं कि अंग्रेजों को दक्षिणवर्गीय और वामवर्गीय जातीय समूहों से कितनी दिक्कत हुई थी और उन्होंने मद्रास के अंग्रेज अधिकारियों का कितना विरोध किया था।

ऐसे भी रिकार्ड हैं जो बताते हैं कि १७५० से पहले के समय में मद्रास में फौज को और पुलिस को कृषि उपज का एक निश्चित अंश मिलता था और इसके बदले यह उनका कर्तव्य था कि वे स्थानीय गड़बड़ी की घटनाओं और चोरी आदि के समय उनकी रक्षा करें। अगर पुलिस चोरी गए सामान को हासिल करके लौटाने में नाकामयाब होती थी तो उसे चोरी गए सामान के बराबर भरपाई करनी पड़ती थी। लेकिन १७५० से पहले के ब्रिटिश रिकार्ड उस समय के सामाजिक और राजनैतिक टॉप्पे के बारे में कोई विस्तृत जानकारी नहीं देते। अलबत्ता १६२० के आसपास के हेनरी लार्ड के लिखे सूरत के बनियों और पारसियों से संबंधित कुछ ब्यौरे जरूर हैं या फिर पीटर डेला वेला के १७ वीं शताब्दी के मध्य के ब्यौरे हैं जो दूसरी चीजों के साथ कर्नाटक के एक स्कूल और उसमें चलने वाली पढ़ाई के बारे में जानकारी देते हैं।

१७५० के बाद के अंग्रेजी रिकार्ड अपने इलाके पर अंग्रेजी प्रभुत्व से एक दो दशक पहले के समाज की तरफ इशारा जरूर करते हैं। इन ब्यौरों में जानकारी के स्वरूप विस्तार और गुण के ख्याल से भिन्नताएं होना स्वाभाविक

हैं, और वह इस पर निर्भर करता है कि ये रिकार्ड किस इलाके के हैं और उन्हें किसने तैयार किया। लेकिन भारतीय समाज के इस दौर को समझने के लिए, कि किस तरह उसे नष्ट किया गया, किस तरह के विचारों और ढोंचे के जरिए उसे दूसरी शकल में ढालने की कोशिश की गई, ज्यादा उपयोगी सामग्री ब्रिटेन के अभिलेखागारों में मिलती है; क्योंकि नीतियों और यहाँ के लिए नया ढाँचा ब्रिटेन में ही बनाया गया था। राजनैतिक, शैक्षिक और व्यापारिक स्तर पर जिस तरह के सोच-विचार ने इन नीतियों को और इस पूरी रणनीति को पैदा किया वह ब्रिटेन के ही आंतरिक दरस्तावेजों में मिल सकती है। मद्रास, कलकत्ता, बंबई, लखनऊ और दिल्ली के अभिलेखागारों में तो वे अंतिम निर्देश ही मिल सकते हैं जो अमल में लाने के लिए यहाँ के अंग्रेज अधिकारियों के पास पहुँचे। बहरहाल, आज जिन्हें हम भारतीय अभिलेखागार कहते हैं उनमें ले देकर अंग्रेजी रिकार्ड ही हैं या बहुत मामूली संख्या में वे दरस्तावेज हैं जिन्हें अंग्रेजों ने पुराने भारतीय स्रोतों से इकट्ठा किया था या उनकी नकल करवाई थी।

अंग्रेजों से पहले के भारतीय समाज को समझने के लिए मुझे १७४० से १८३० के बीच के ब्रिटेन के अंदरूनी दरस्तावेज ज्यादा उपयोगी दिखाई देते हैं। यह बात सही है और मैकाले ने भी कहा है कि १८३० में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी वैसी ही थी जैसी वह १६०० में बनते समय थी। शुरु से ही ब्रिटिश सरकार ने उसे शाही फरमान के जरिए एक संप्रभु संस्था की तरह दूसरे इलाकों को विजित करके उन हुकूमत चलाने के पूरे अधिकार दे रखे थे। इंग्लैंड में और पश्चिमी यूरोप के दूसरे देशों में दूसरी अनेक कंपनियों को भी १४८० के बाद से इसी तरह के अधिकार दिए जाते रहे थे। १४८० के आसपास इंग्लैंड के हेनरी सप्तम ने जान केबाट और उसके बेटे को शाही झंडे के नीचे, किसी भी किले, शहर या द्वीप या मुख्य भूमि जहाँ भी संभव है, पर कब्जा करने या उसे बनाने के अधिकार दिए थे। यह इलाका पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी समुद्र में चाहे कहीं भी हो अगर वहाँ रहने वाले लोग अधार्मिक और जंगली हैं और अब तक ईसाई धर्म से वंचित हैं तो राजा ने इन्हें विजित करने, उन पर कब्जा करने और राज्य करने के अधिकार दे दिए थे। एक ही शर्त थी कि यहाँ से होने वाली आमदनी का पॉन्चवॉ हिस्सा वे राजा के खजाने में जमा कर देंगे।

यूरोप के दुनिया भर में हुए विस्तार को समझने के लिए यह याद रखना जरूरी है कि ये सब कंपनियों यूरोप के विभिन्न राज्यों की औजार थीं। उन मीकों पर भी जब उन राज्यों और कंपनियों के बीच कोई झगड़ा पैदा हो

जाता था वे राज्य द्वारा सैनिक और राजनैतिक संरक्षण पाए रहती थीं। और जब किसी कंपनी, खासतौर पर ब्रिटिश कंपनी ने, दूसरे इलाकों में जाकर विजय करना और राज्य करना शुरू किया, इस विजित इलाके का वास्तविक नियंत्रण ब्रिटिश राज्य के हाथों में जा पहुँचा। औपचारिक तौर पर कुछ उदाहरणों में शासन चाहे कंपनी के हाथ में ही रहा हो, जैसा कि भारत के मामले में १८५८ तक रहा, लेकिन फ़ैसले लेने और राजनैतिक तथा सैनिक नियंत्रण में ब्रिटिश राज्य की ही निर्णायक भूमिका रहती थी। और कंपनियों को जो भी निर्देश भेजे जाते थे ब्रिटिश हुकूमत उनकी अनिवार्य तौर पर जॉच करती थी, उन्हें सुधारती थी और मंजूरी देती थी। भारत के मामले में १७८४ के बाद इसे कानूनी तौर पर अनिवार्य बना दिया गया था। लेकिन १७५० से ही ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के बारे में कोई बड़ा निर्माण ब्रिटिश हुकूमत से पूछे बिना नहीं ले सकती थी। उदाहरण के लिए १७५० में मराठा सेनापति आंग्रे पर किया गया अंग्रेजी आक्रमण ब्रिटिश सरकार की नीति का और उसके निर्देशों का परिणाम था। इसमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को कोई पहल नहीं करनी थी।

आमतौर पर ऐसा मान लिया गया है और इसमें पश्चिम के उदारवादियों की काफी भूमिका रही है कि पश्चिमी देशों ने खासतौर पर अंग्रेजों ने दुनिया भर में तो स्वतंत्रता दिखाई मगर अपने यहाँ उन्होंने लोकतांत्रिक और उदारवादी रुख अपनाया था। यह मान्यता सम्झाई से कोसों दूर है। भारत में अंग्रेजों ने जो किया, वह इंग्लैंड में ११ वीं शताब्दी में हुई नार्मन विजय के बाद से जो कुछ किया गया और जो १८०० के बाद तक जारी रहा, उससे बहुत भिन्न नहीं था। १६ वीं शताब्दी के बाद यही व्यवहार उन्होंने आयरलैंड में किया था और इसी को १६ वीं, १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में उत्तरी अमेरिका में दोहराया गया। ब्रिटिश सत्ता के उत्तराधिकारी अमरीकियों ने १८ वीं, १९ वीं शताब्दी में अपने तेजी से फैले साम्राज्य में भी यही किया। भारत में फिर उनके द्वारा किया गया विनाश, दमन और उनकी पैदा की हुई अव्यवस्था इन इलाकों के मुकाबले हल्की लगती है। इसकी वजह चाहे देश का बहुत विराल होना रहा हो, जनसंख्या की सघनता रही हो या यूरोपीय लोगों के प्रतिकूल साबित होनेवाली यहाँ की जलवायु रही हो।

ब्रिटेन में १८१८ तक करीब दो सौ छोटे-बड़े अपराधों के लिए, जिनमें पाँच शिलिंग से ऊपर की चोरी भी शामिल है, मृत्युदंड देना कानून सम्मत था। इसी तरह १८३० तक किसी गंभीर समझे गए अपराध के लिए किसी अंग्रेज

सैनिक को खास तरह के कोड़ों से चार-पाँच सौ कोड़े लगाना आम बात थी। भारत में अंग्रेजों द्वारा मृत्युदंड देने, कोड़े लगाने या दूसरी सजाएं दिए जाने की संख्या बड़ी हो सकती है, लेकिन कड़ाई के मामले में भारत में दी गई सजाएं उन्नीस ही साबित होंगी। शायद २०-५० कोड़े, या कोड़े मारे जाने का विचार ही ज्यादातर भारतीयों को मरा जैसा महसूस करने के लिए काफी था, जिन्हें अंग्रेजी तौर-तरीकों, आदतों और निर्ममतापूर्वक दी जानी वाली सजाओं की आदत नहीं थी। बहरहाल भारत में कब्जा करके बैठे अंग्रेजों या यूरोपियनों के लिए, जिन लोगों पर वे राज कर रहे थे, उन्हें व्यक्तिगत रूप से सजा देना या रास्ते पर लाने की कोशिश करना संभव नहीं था। हालाँकि घरेलू नौकरों को अपने अंग्रेज मालिकों या उनकी पत्नियों द्वारा बेंत से इस तरह पीटे जाने की घटनाएँ हुई हैं जिसमें उनकी मौत तक हो गई है। इसी तरह अंग्रेज कलेक्टरों ने गाँवों के मुखियाओं और दूसरे भारतीय अफसरों को इतने कोड़े फटकारे हों कि वह स्वर्ग सिंघार गया हो, ऐसा भी हुआ है।

यह स्वभाविक ही था कि शुरू में अंग्रेज अफसर अपनी निजी हैसियत में या सरकारी हैसियत से न्याय और व्यवस्था के अंग्रेजी कायदे-कानूनों पर चलते दिखाई देते, जिनके जरिए अपराधी समझे जाने वाले लोगों को खड़े-खड़े सजा दे दी जाती थी। लेकिन भारत जैसे बड़े देश में इस तरह के कायदे-कानूनों पर अमल करवाना बहुत मुश्किल था इसलिए ऐसे ज्यादा नफीस राजनैतिक, आर्थिक और कानूनी तरीके निकाले गए जिनसे यही उद्देश्य साधा जा सकता और ज्यादा बड़े पैमाने पर तथा ज्यादा कारगर तरीके से सजा देते हुए नियंत्रण रखा जा सकता। राजस्व की वसूली के लिए आधी या एक तिहाई स्थानीय आबादी को कोड़े लगाए जाने लगे। शुरू में इनका उद्देश्य इतने बड़े पैमाने पर देश के मनोबल को भीतर से तोड़ना नहीं रहा होगा। लेकिन धीरे-धीरे ये तरीके कारगर दिखाई दिए और १७५० के बाद अगले डेढ़ सौ साल तक देश के एक या दूसरे हिस्से में राजस्व का काफी बड़ा हिस्सा हड़पने के लिए इन तरीकों का इस्तेमाल किया गया। कई इलाकों में तो इस तरह की विपरित हर दशक में टूट पड़ती थी।

अंग्रेजी राज के बारे में ये बातें कुछ लोगों को बहुत कड़ी और बड़ा-चटा कर बतायी गई लग सकती हैं। दो ब्रिटिश दरतावेज, जिनमें से पहला १६०० में आयरलैंड को कैसे पूरी तरह झुका कर अंग्रेजी अधीनता में लाया जा सकता है और दूसरा १८०० के आसपास दक्षिणी भारत को किस तरह झुकाया और

अंग्रेजी अधीनता में डाला जा सकता है, इसका ब्यौरा देने वाले हैं। एक अंग्रेज महाशिवक्ता सर जॉन डेविस ने आयरलैंड के लिए एक प्रभावकारी नीति सुझाते हुए कहा था :-

“आयरलैंड की पूर्ण विजय में दो कभियों दिखाई देती हैं। पहली है, उनका नरमी से किया गया दमन और दूसरी है, ठीला नागरिक शासन। जिस तरह किसान को जमीन को अच्छा बीज डालने लायक बनाने के लिए उसे अच्छी तरह तोड़ना और गोड़ना पड़ता है और फिर उसमें खाद डालनी पड़ती है। उसके बाद फौरन उसमें अच्छे बीज डालने पड़ते हैं वरना उसमें जंगली वनस्पतियों उग आएंगी। इसी तरह एक बर्बर देश को पहले युद्ध और दमन के जरिए बुरी तरह से तोड़ देना पड़ता है और तभी वह अच्छी सरकार के लायक होता है। मगर जब वह विजित होकर पूरी तरह नियंत्रण में आ जाए और उसे अच्छी सरकार न मिले तो वह फिर अपनी पुरानी और बर्बर अवस्था में लौट सकता है।”

दूसरा दस्तावेज भारतीय मामलों के बोर्ड आफ कमिश्नर्स के अध्यक्ष हेनरी डंडास ने ग्यारह फरवरी १८०१ को मद्रास प्रेसीडेंसी की सरकार को भेजा था जिसमें उन्हें स्थायी बंदोबस्त के विरुद्ध सलाह दी गई थी :-

“कर्नाटक के कई प्रांतों में बंगाल से, जहाँ सबसे पहले स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया था, गुणात्मक फर्क है। बंगाल के लोग प्रांत सरकार की अधीनता मानने और उसके निर्देशों के अनुसार आचरण करने के लिए अपने आपको तैयार कर चुके थे जबकि कर्नाटक के प्रांतों में ऐसा नहीं है। वे इन फायदों और सुविधाओं को पाने के लिए पूरी तरह तैयार नहीं हुए हैं। यहाँ कोई लोकप्रिय व्यवस्था लागू करना निरर्थक और उलटे नतीजे देने वाली होगी, जब तक कि वे मानसिक रूप से मिलने वाले फायदों का महत्व समझने लायक न हो जाएं। ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उत्तरी सरकार इलाकों में दिखाई देने वाले विद्रोह और अवज्ञा की भावना को पूरी तरह दबा न दिया जाए। इन इलाकों का इस तरह दमन किया जाना चाहिये कि वे इस सिद्धांत के अनुकूल हो जाएं। इन्हें हमसे जो भी सुविधाएं और ज्ञान मिल रहा है उसके लिए ऋणी महसूस करने लगना चाहिए और इसी तरह हम जो संरक्षण उन्हें दे रहे हैं इसके लिए उन्हें ऋणी महसूस करते दिखाई देना चाहिए। हम इन सिद्धांतों को अनिवार्य समझते हैं।”

संयोग से इन हेनरी डंडास की कोई छह से आठ पीटियों भारत में

ब्रिटिश हुकूमत से काफी निकट रूप से जुड़ी रहीं, जब तक कि वे १६४७ में यहाँ से कूच नहीं कर गए। इसी तरह के ऐसे कई हजार अंग्रेज परिवार रहे होंगे जो भारत में १७८० से १६४७ तक चले अंग्रेजी राज में काफी ऊँचे स्तर पर उससे जुड़े रहे होंगे।

